''निवृत्तिवाद- आधुनिक संदर्भ में''

डॉ. जया पाठक

मनुष्य एक संवेदनशील प्राणी होने के साथ ही आनन्दकामी भी है, क्योंकि प्रतिकूलता की स्थिति उसकी सहज चेतना को स्वीकार्य नहीं। प्रतिकूलता किसी भी स्तर पर आनंदानुभुति में बाधक हो सकती हैं। अति भोगवाद से सर्वस्व त्याग तक की यात्रा एवं भारतीय संस्कृति के दोनों पक्ष-निवृत्ति एवं प्रवृत्ति आनन्द तक पहुँचने के ही विभिन्न पथ हैं।

जैसा कि हम देखते हैं वैदिक ऋषि की कल्पनाएँ प्राकृतिक शक्तियों पर विजय तथा भोग की प्राप्य उच्चतम सामग्री तक ही सीमित नही थी। मात्र तात्कालिक सुख उसके आनन्द को स्थाई रुप नहीं दे सके थे, उसकी बृहत्तर जिज्ञासा सुखी जीने के साथ-साथ सार्थक जीने की प्रेरणा भी देती थी। यही कारण था यज्ञों द्वारा प्राप्त भौतिक सुखों पर प्रश्न चिन्ह लगाने का। यहीं से आनंदकामी ऋषि की विराट कल्पनाएँ आनन्द के नवीन पक्ष के अनुसंधान में लग जाती हैं। फलस्वरुप ''तेन त्यक्तेन भुञ्जीघा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् अर्थात् तू त्याग भाव से अपना पालन कर, किसी के धन की इच्छा न कर'' की त्यागमयी प्रेरणा निवृत्ति को जीवन का अनिवार्य तत्त्व घोषित करती है। नचिकेता द्वारा मृत्यु देवता के सम्मुख भौतिक सुखों की उपेक्षा तथा मृत्यु रहस्य जानने की जिज्ञासा भी भोग परक दृष्टिकोण पर आत्मपरक दृष्टि की विजय ही है। जो दुःखमयता के बीच से आनन्द का मार्ग प्रशस्त करती है।

अर्थ की उपासना स्वार्थमयी प्रवृति की जननी है। जो समाज के परस्पर सौख्य विकास में बाधक है। इसी स्वार्थ परता से उपर उठकर देखा जाय तो 'स्यादवाद' की महनीयता भी स्पष्ट हो जाती है। सामाजिक शांति का प्रश्न पुरातन होने के साथ ही चिर नवीन भी है जो समाज के प्रति व्यक्ति की निष्ठा तथा परस्पर सौहार्द भाव पर आधारित है। व्यक्ति के अहिंसा, सत्य अस्तेय अपरिग्रह, दया, करुणा, क्षमा, औदार्य आदि मानवीय गुण, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के विकार की पृष्ठ भूमि है। जिस पर नचिकेता की जिज्ञासा, मैत्रयों द्वारा प्रतिपादित धन की निःसारता गौतम तथा महावीर की त्याग तपस्या, शंकराचार्य की योग साधना, कबीर व विवेकानन्द के उद्घोषों के स्वर आनन्द की किरणें प्रस्त्रवित कर रहे हैं ।

वर्तमान् में निवृत्ति या त्याग के स्वरुप को लेकर, विवाद भी हो सकते हैं। आज कितना छोड़ा हैं? उसे प्रायः अधिक महत्त्व दिया जाता है? उस भौतिक त्याग के पश्चात् प्राप्य आध्यात्मिक उपलब्धियों से समाज को कितना प्राप्त हुआ? उसकी गणना प्राय नहीं हो पाती। यही कारण है कि साधक प्रायः 'त्याग' को ही लक्ष्य समझकर साधना से विरत हो जाते हैं। और यह प्रश्न रह ही जाता है कि अमर जीवन मूल्यों की आत्मगत अनुभुति पाकर उन शाश्वत मूल्यों से समाज को परिचित कराने वाले 'साधक' की अत्यन्त आवश्यकता है? या मात्र एन्द्रिय अनुभवो द्वारा खोखली मान्यताओं प्रतिस्थापित करने वाले तथाकथित साधकों का कहना न होगा कि भारतीय चिंतको ने इन्द्रिय महत्ता को नहीं स्वीकारा। बुद्धि से भी सूक्ष्म आत्मा को महत्त्व देने वाले इन चिंतकों ने कठिन आत्म निग्रह द्वारा यह सिद्ध किया कि विषयों के अधिन बुद्धि नहीं, बुद्धि के अधिन विषय हैं तथा समाज में रहकर भी उससे अनासक्त रहा जा सकता हैं। विदेहराज जनक की व्यवस्था, गौतम एवं महावीर का जनपदों से सम्पर्क, दयानंद व विवेकानन्द

रोना संसारी को होता हैं त्यागी को नहीं। त्यागी तो जटिल परिस्थितियों में भी आत्मानंद भाव से सुशोभित रहता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की धार्मिक क्रांतियां तथा गांधी की राजनैतिक गतिविधियां, उस साधना के विभिन्न रुप है जो साधक के साथ-साथ समाज को भी सही दिशा में अग्रसर करते हैं। यहाँ साधक के भटकने का तो प्रश्न ही नहीं है क्यों कि वे पूर्णता को प्राप्त कर जीवन की ओर लौटे हैं।

उक्त साधनामय जीवन पद्धति का मूल वह निवृत्ति हैं जो तपस्या द्वारा शुद्ध तथा ज्ञान द्वारा मुखरित होता हैं। इसे उत्तम प्रकार से समझाते हुएं महावीर स्वामी ने एक स्थान पर कहा हैं - **''जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ। साहीणे चयइ भोये, से हु चाइ तिवुच्चई।''** अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी जो मनुष्य सुन्दर तथा प्रिय भोगों को प्राप्त करके भी उनकी ओर पीठ करता हैं अर्थात् उन भोगों में अलिप्त रहता है; इतना ही नहीं अपने अधिन होने वाले भोगों को भी जो छोड़ता है, वही सच्चा त्यागी है। वस्तुत: त्याग के लिए आवश्यक हैं-ज्ञान पूर्वक वस्तु प्रहाण। यह ममता के पूर्ण परित्याग तथा पूर्ण वैराग्य होने पर ही संभव है।

आज समाज में चारों ओर अशांति के तांडव की जड़ में हमारी सांसारिक एषणाओं के प्रति प्रवृत्ति ही हैं। दृष्टि एवं विचारों के संकुचन से हम दूसरे के महत्त्व को स्वीकार करने जैसे मानसिक तप से विरक्त हो गये हैं। हमारी अस्मिता हमें, आत्मालोचन करने नहीं देती। जीवन के समस्त क्षेत्र हमारी महत्ता एवं बडप्पन के प्रदर्शन - स्थल बन गये हैं। हम अपनी संपुर्ण शक्ति को राजनीति समाज विज्ञान के आविष्कारों, साहित्य के वादों यहाँ तक कि धर्म, संगीत या अन्य ललित की प्रभंजन वेगशाली प्रतिस्पर्धाओं में आँख मूंदकर झोंक रहे हैं। जिनसे दृष्टि को चौंधिया देने वाला प्रकाश तो मिल रहा है परन्तु शांति दायिनी शीतल चन्द्रिका का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि अतिशय भौतिक उपलब्धियों के होते हुए भी हम मानवता के आत्मिक विकास की दशा में कोसों पीछे हैं।

विकास के नाम पर मानव के ऱ्हास की कथा कितनी व्यथा पूर्ण है - कहने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है अतीत के पुन: मूल्यांकन द्वारा सही दिशा बोध की। क्योंकि विकास के अनादि क्रम में हम मात्र कर्म की दृष्टि से ही नहीं, अपने दर्शन, चिंतन, आस्था आदि की दृष्टि से भी उस स्वर्णिम शृँखला की कड़ी हैं जिसका एक छोर भविष्य में अलक्ष्य है। इस क्रम बद्धता के अभाव में हमारा मुल्यांकन परिचय संभव नहीं। हमें कर्म के चुनाव की शक्ति प्राप्त है अत: परंपरा के सचेतन संग्राहक होने के नाते निवृत्ति - पथ के प्रति संकुचित या कुंठित मनोवृत्ति त्याग कर विराट् दृष्टिकोण अपनाना होगा।

आज की व्यापक जटिलताओं के बीच में भी समन्वय सह अस्तित्व एवं सहिष्णुता का अवमूल्यन नहीं हुआ है। क्योंकि समन्वय एवं सह अस्तित्व शारीरिक धरातल पर अहिंसा के ही दूसरे रुप हैं। तथा सहिष्णुता मानसिक धरातल पर अनेकांत के। **''योग:कर्म सु कौशलम्।''** का उपदेश कुरुक्षेत्र के अर्जुन के लिए जितना उपयोगी था, बीसवी सदी के मानव समूह के लिए भी उतना ही प्रेरणादायी है। अत: अलौकिकता के आग्रह से मुक्त, लोक जीवन के धरातल पर प्रजातंत्र एवं मानवीय मूल्यों की उर्वर भूमि में वपित कर्मशीलता तथा विश्व बंधुता के बीज अनंत शांति को पल्लवित तथा अनंत ज्ञान और अखंडानंद के रस - सौरभ को फलित पुष्पित कर सकेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org